श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.10 - द्वितीय सोपान (अर्थ)

इस अध्याय में भगवान श्री कृष्ण जैमिनी दर्शन के अनुयायियों के मत का खंडन करते हुए उद्धव को बताते हैं कि कैसे भौतिक शरीर के भीतर बँधी आत्मा शुद्ध पारलौकिक ज्ञान विकसित कर सकती है।

वैष्णव, यानि जिसने भगवान विष्णु की शरण ली है, उसको पंचरात्र और अन्य प्रकट शास्त्रों में बताए गए यम-नियमों का पालन करना चाहिए। उसे स्वयं के स्वाभाविक गुणों के अनुसार वर्णाश्रम की संहिता का पालन करना चाहिए। अपनी भौतिक इन्द्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से प्राप्त तथाकथित ज्ञान उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार सपने में देखा दृश्य। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के लिए किए गए कार्य को छोड़ देना चाहिए और कार्य को कर्तव्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। जब किसी को स्वयं के सत्य के बारे में कुछ समझ में आ गया है, तो उसे कर्तव्य से बाहर किए गए भौतिक कार्य को छोड़ देना चाहिए और केवल सच्चे आध्यात्मिक गुरु की शरण में जाना चाहिए, जो कि भगवान के प्रकट प्रतिनिधि हैं। आध्यात्मिक गुरु के प्रति सेवक को बहुत दृढ़ विश्वास होना चाहिए, शिष्य को परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक होना चाहिए और ईर्ष्या की प्रवृत्ति से रहित होना चाहिए। आत्मा स्थूल और सूक्ष्म भौतिक शरीरों से अलग है। भौतिक शरीर में प्रवेश करने वाली आत्मा अपनी पिछली गतिविधियों की प्रतिक्रियाओं के अनुसार शारीरिक कार्यों को स्वीकार करती है। इसलिए, केवल प्रामाणिक, दिव्य आध्यात्मिक गुरु स्वयं के शुद्ध ज्ञान द्वारा पथ प्रदर्शन करने में सक्षम है।

जैमिनी और अन्य नास्तिक दार्शनिकों के अनुयायी भौतिक कार्य को जीवन के उद्देश्य के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन कृष्ण इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि देहधारी आत्मा जो खंडित भौतिक समय के संपर्क में आ गई है, अपने ऊपर जन्म और मृत्यु की एक सतत श्रृंखला धारण कर लेती है और परिणाम स्वरूप सुख और संकट को भोगने के लिए मजबूर होती है। यह कोई संभावना नहीं है कि जो अपने भौतिक कार्य के फल से जुड़ा हुआ है, वह जीवन में किसी भी महत्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यज्ञ आदि कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग और अन्य स्थलों के सुख थोड़े समय के लिए ही अनुभव किए जा सकते हैं। किसी भी भोग के समाप्त होने के बाद इस नश्वर संसार में लौटना पड़ता है। भौतिकवाद के पथ पर निश्चय ही कोई निर्बाध या प्राकृतिक सुख नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः(स्), स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।

वर्णाश्रमकुलाचार- मकामात्मा समाचरेत् ॥ 1॥

भगवान श्री कृष्ण ने कहा - प्यारे उद्धव! साधक को चाहिए कि सब तरह से मेरी शरण में रहकर मेरे द्वारा उपदेश किए गए अपने धर्मों का सावधानी से पालन करे तथा निष्काम भाव से अपने वर्ण,आश्रम और कुल के अनुसार सदाचार का भी अनुष्ठान करे।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा , देहिनां(म्) विषयात्मनाम् ।

गुणेषु तत्त्वध्यानेन, सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ 2॥

निष्काम होने का उपाय यह है कि स्वधर्मों का पालन करने से शुद्ध हुए अपने चित्त में यह विचार करे कि जगत के विषयी प्राणी शब्द,स्पर्श,रूप इत्यादि विषयों को सत्य समझ कर उनकी प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न करते हैं उनमें उनका उद्देश्य यह होता है कि सुख मिले परंतु मिलता दुख ही है।

सुप्तस्य विषयालोको , ध्यायतो वा मनोरथः ।

नानात्मकत्वाद् विफलस्- तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ 3॥

मनुष्य को ऐसा विचार करना चाहिए कि स्वप्न अवस्था में और मनोरथ करते समय जाग्रत अवस्था में भी मनुष्य मन ही मन अनेकों प्रकार के विषयों का अनुभव करता है परंतु उसकी यह सारी कल्पना वस्तु शून्य होने के कारण व्यर्थ है। वैसे ही इंद्रियों के द्वारा होने वाली भेद बुद्धि भी व्यर्थ ही है क्योंकि यह भी इंद्रियजन्य और नाना वस्तु विषयक होने के कारण पूर्ववत् असत्य ही है।

निवृत्तं(ङ्) कर्म सेवेत , प्रवृत्तं(म्) मत्परस्त्यजेत् ।

जिज्ञासायां(म्) सं(म्)प्रवृत्तो, नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥ 4॥

जो पुरुष मेरी शरण में आना चाहता है उसे अंतर्मुखी करने वाले निष्काम नित्य कर्म ही करने चाहिए। ऐसे कर्मों का बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिए जो कि बहिर्मुख बनाने वाले और सकाम हो। जब आत्मज्ञान की उत्कट इच्छा जाग उठे तब तो कर्म संबंधी विधि-विधानों का भी आदर नहीं करना चाहिए।

यमानभीक्ष्णं(म्) सेवेत , नियमान् मत्परः(ख्) क्वचित् ।

मदभिज्ञं(ङ्) गुरुं(म्) शान्त- मुपासीत मदात्मकम् ॥ 5॥

आत्मज्ञान चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि यम- नियमों का पालन करे और शौचाचार का पालन भी यथाशक्ति करे। जिज्ञासु पुरुष के लिए यम और नियमों के पालन से भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह मेरे स्वरूप को जानने वाले,शांत स्वभाव वाले अपने गुरु की सेवा मेरा ही स्वरूप समझ कर करे।

अमान्यमत्सरो दक्षो , निर्ममो दृढसौहृदः ।

असत्वरोऽर्थजिज्ञासु- रनसूयुरमोघवाक् ॥ 6॥

शिष्य को अभिमान नहीं करना चाहिए। वह किसी से भी ईर्ष्या ना करे, किसी का बुरा ना सोचे। प्रत्येक कार्य कुशलता से करे और आलस्य न करे। उसके मन में कहीं पर भी ममता ना हो, गुरु के चरणों में दृढ़ अनुराग हो। प्रत्येक काम सावधानीपूर्वक करे। व्यर्थ की बात न करे तथा किसी में दोष ना निकाले।

जायापत्यगृहक्षेत्र- स्वजनद्रविणादिषु ।

उदासीनः(स्) समं(म्) पश्यन्, सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ 7॥

जिज्ञासु को चाहिए कि वह स्त्री, पुत्र, घर, खेत, स्वजन और धन आदि संपूर्ण पदार्थों में एक सम आत्मा को देखे और किसी में भी कुछ विशेषता का आरोप करके उससे ममता न करे उदासीन रहे अर्थात समदर्शी रहे।

विलक्षणः(स्) स्थूलसूक्ष्माद्, देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।

यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्, दाहकोऽन्यः(फ्) प्रकाशकः ॥ 8॥

हे उद्धव! जैसे जलाने वाली लकड़ी से जलाने और प्रकाशित करने वाली आग बिल्कुल अलग है, वैसे ही विचार करने पर मालूम होता है कि पंचमहाभूतों का बना स्थूल शरीर और मन बुद्धि आदि तत्वों का बना सूक्ष्म शरीर दोनों ही दृश्य और जड़ हैं। उनको जानने और प्रकाशित करने वाला आत्मा साक्षी एवं स्वयं प्रकाशित है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड़ है। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस देह की अपेक्षा आत्मा विलक्षण है, देह से आत्मा भिन्न है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्- नानात्वं(न्) तत्कृतान् गुणान् ।

अन्तः(फ्) प्रविष्ट आधत्त, एवं(न्) देहगुणान् परः ॥ 9॥

जब आग लकड़ी में प्रज्वलित होती है तब लकड़ी के उत्पत्ति- विनाश, बड़ा- छोटा होना और अनेकता आदि सभी गुणों को वह अग्नि स्वयं ग्रहण कर लेती है परंतु वास्तव में लकड़ी के उन गुणों से आग का कोई संबंध नहीं होता। उसी प्रकार जब आत्मा अपने को शरीर

मान लेता है,तब वह देह के गुण,जड़ता,अनित्यता स्थूलता,अनेकता आदि गुणों से युक्त जान पड़ता है लेकिन आत्मा इन गुणों से सर्वथा रहित है।

योऽसौ गुणैर्विरचितो, देहोऽयं(म्) पुरुषस्य हि ।

संसारस्तन्निबन्धोऽयं(म्), पुं(व्)सो विद्याच्छिदात्मनः ॥ 10॥

ईश्वर के द्वारा नियंत्रित माया के गुणों ने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर का निर्माण किया है। जीव को शरीर और शरीर को जीव समझ लेने के कारण ही स्थूल शरीर के जन्म मरण और सूक्ष्म शरीर के आवागमन का आत्मा पर आरोप किया जाता है। जीव को जन्म-मृत्यु रूप संसार इसी भ्रम के कारण प्राप्त होता है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसकी जड़ कट जाती है।

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मान- मात्मस्थं(ङ्) केवलं(म्) परम् ।

सं(ङ्)गम्य निरसेदेतद्- वस्तुबुद्धिं(म्) यथाक्रमम् ॥ 11॥

प्यारे उद्धव! इस जन्म मृत्यु रूप संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और दूसरा कोई कारण नहीं है। अतः अपने वास्तविक स्वरूप को,आत्मा को जानने का प्रयास करना चाहिए। अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत् से अतीत द्वैत की गंध से रहित एवं अपने आप में ही स्थित है। उसका और कोई आधार नहीं है। उसे जानकर धीरे धीरे स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में जो सत्यत्व बुद्धि हो रही है उसे क्रमशः मिटा देना चाहिए।

आचार्योऽरणिराद्यः(स्) स्या- दन्तेवास्युत्तरारणिः ।

तत्सन्धानं(म्) प्रवचनं(म्), विद्यासन्धिः(स्) सुखावहः ॥ 12॥

यज्ञ में जब अरणि मंथन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं तो उसमें नीचे ऊपर दो लकड़ियाँ रहती हैं और बीच में मंथन काष्ठ रहता है वैसे ही आत्मविद्या रूप अग्नि की उत्पत्ति के लिए आचार्य और शिष्य नीचे ऊपर की अरणियाँ हैं तथा उपदेश मंथन काष्ठ है इनमें से जो ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती है वह विलक्षण सुख देने वाली है

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्-

धुनोति मायां(ङ्) गुणसम्प्रसूताम् ।

गुणां(व्)श्च सन्दह्य यदात्ममेतत्,

स्वयं(ञ्) च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥ 13॥

इस यज्ञ में बुद्धिमान शिष्य सद्गुरु के द्वारा जो अत्यंत विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है वह इन तीनों गुणों से (सत्व रज तम) बनी हुई विषयों की माया को भस्म कर देता है। उसके बाद वे त्रिगुण भी भस्म हो जाते हैं जिनसे यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जाने पर जब आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती,तब वह ज्ञानाग्नि ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूप में शांत हो जाती है जैसे समिधा न रहने पर आग बुझ जाती है। यहाँ यह बात स्पष्ट हो गई है कि स्वयं ज्ञान स्वरूप नित्य आत्मा एक ही है। कर्तृत्व,भोक्तृत्व आदि देह के धर्म हैं। आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है,सब अनित्य और मायामय है इसलिए आत्मज्ञान होते ही समस्त विपत्तियों से मुक्ति मिल जाती है।

अथैषां(ङ्) कर्मकर्तृणां(म्), भोक्तृणां(म्) सुखदुःखयोः ।

नानात्वमथ नित्यत्वं(म्), लोककालागमात्मनाम् ॥ 14॥

मन्यसे सर्वभावानां(म्), सं(व्)स्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।

तत्तदाकृतिभेदेन , जायते भिद्यते च धीः ॥ 15॥

एवमप्यं(ङ्)ग सर्वेषां(न्), देहिनां(न्) देहयोगतः ।

कालावयवतः(स्) सन्ति, भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ 16॥

अत्रापि कर्मणां(ङ्) कर्तु- रस्वातन्त्र्यं(ञ्) च लक्ष्यते ।

भोक्तुश्च दुःखसुखयोः(ख्), को न्वर्थो विवशं(म्) भजेत् ॥ 17॥

हे प्यारे उद्धव!यदि तुम कर्मों के कर्ता और सुख-दुख के भोक्ता जीवों को अनेक तथा जगत्,काल,वेद और आत्माओं को नित्य मानते हो और समस्त पदार्थों की स्थिति प्रवाह से नित्य और यथार्थ मानते हो तथा यह समझते हो कि घट आदि बाह्य आकृतियों के भेद के अनुसार ही ज्ञान उत्पन्न होता है और बदलता रहता है तो ऐसा मानने से बड़ा अनर्थ हो जाएगा। क्योंकि इस जगत के कर्ता आत्मा की नित्य सत्ता और जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति भी सिद्ध नहीं हो सकेगी यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाए तो देह और संवत्सर आदि काल अवयवों के संबंध से होने वाली जन्म मरण की अवस्थाएँ भी नित्य होने के कारण दूर नहीं हो सकेंगी क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और काल की नित्यता स्वीकार करते हो। इसके अलावा यहाँ भी कर्मों का कर्ता तथा सुख-दुख का भोक्ता जीव परतंत्र ही दिखाई देता है यदि वह स्वतंत्र हो तो दु:ख का फल क्यों भोगना चाहेगा? इस प्रकार सुख भोग की समस्या सुलझ जाने पर भी दुख भोग की समस्या तो उलझी ही रहेगी। इस मत के अनुसार जीव को कभी मुक्ति या स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकेगी। जब जीव स्वरूपत: परतंत्र है, विवश है तब तो स्वार्थ या परमार्थ का कोई भी सेवन नहीं करेगा अर्थात वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों से ही वंचित रह जाएगा।

न देहिनां(म्) सुखं(ङ्) किञ्चिद् , विद्यते विदुषामपि ।

तथा च दुःखं(म्) मूढानां(म्), वृथाहं(ङ्)करणं(म्) परम् ॥ 18॥

अकसर ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्म कुशल विद्वानों को कुछ भी सुख नहीं मिलता और मूढ़ लोगों को सुख ही सुख मिलता रहता है,दुख से कभी पाला ही नहीं पड़ता इसलिए जो लोग अपनी बुद्धि या कर्म से सुख पाने का घमंड करते हैं उनका यह अभिमान व्यर्थ है।

यदि प्राप्तिं(म्) विघातं(ञ्) च, जानन्ति सुखदुःखयोः ।

तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं(म्), मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥ 19॥

यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाए कि वे लोग सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश का ठीक-ठीक उपाय जानते हैं,तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपाय का पता नहीं है,जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरे ही नहीं।

को न्वर्थः(स्) सुखयत्येनं(ङ्), कामो वा मृत्युरन्तिके ।

आघातं(न्) नीयमानस्य, वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥ 20॥

जब मृत्यु उनके सिर पर नाच रही हो तब ऐसी कौन सी भोग सामग्री है जो उन्हें सुखी कर सके? भला जिस मनुष्य को फाँसी पर लटकाने के लिए वधस्थान पर ले जाया जा रहा हो उसे कौन से भोग पदार्थ संतुष्ट कर सकते हैं अर्थात कोई भी भोग पदार्थ उसे सुखी नहीं कर सकता।

श्रुतं(ञ्) च दृष्टवद् दुष्टं(म्), स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।

बह्वन्तरायकामत्वात्, कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ 21॥

प्यारे उद्धव! लौकिक सुख के समान पारलौकिक सुख भी दोष युक्त ही है; क्योंकि वहाँ भी बराबरी वालों में होड़ चलती है,अधिक सुख भोगने वालों के प्रति असूया होती है- उनके गुणों में दोष निकाला जाता है, छोटों को हीन समझा जाता है। प्रतिदिन पुण्य क्षीण होने के साथ ही वहाँ के सुख भी नष्ट होते रहते हैं। कामना पूर्ण होने में कर्म आदि की त्रुटियों के कारण बड़े-बड़े विघ्नों की संभावना रहती है। जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि- अनावृष्टि आदि के कारण नष्ट हो जाती है,वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते- होते के विघ्नों कारण मिल नहीं पाता।

अन्तरायैरविहतो, यदि धर्मः(स्) स्वनुष्ठितः ।

तेनापि निर्जितं(म्) स्थानं(म्), यथा गच्छति तच्छृणु ॥ 22॥

यदि यज्ञ यागादि धर्म बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाए,तो उसके द्वारा जो स्वर्ग आदि लोक मिलते हैं उनकी प्राप्ति का प्रकार मैं बतलाता हूँ,सुनो।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः(स्), स्वर्लोकं(म्) याति याज्ञिकः ।

भुं(ञ्)जीत देववत्तत्र, भोगान् दिव्यान् निजार्जितान् ॥ 23॥

यज्ञ करने वाला पुरुष यज्ञों के द्वारा देवताओं की आराधना करके स्वर्ग में जाता है और वहाँ अपने पुण्य कर्मों द्वारा उपार्जित दिव्य भोगों को देवताओं के समान भोगता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे, विमान उपगीयते ।

गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये, देवीनां(म्) हृद्यवेषधृक् ॥ 24॥

उसे उसके पुण्य के अनुसार एक शुभ्र विमान मिलता है और वह उस पर सवार होकर सुंदरियों के साथ विहार करता है,गंधर्व उसके गुणों का गान करते हैं और उसके रूप लावण्य को देखकर दूसरों का मन लुभा जाता है।

स्त्रीभिः(ख्) कामगयानेन, किं(ङ्)किणीजालमालिना ।

क्रीडन् न वेदात्मपातं(म्), सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ 25॥

उस विमान को वह जहाँ- जहाँ ले जाना चाहता है वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ दिशाओं को गुंजायमान करती हैं। वह अप्सराओं के साथ देवताओं की विहार स्थली में क्रीडा करते-करते यह भूल जाता है कि अब मेरे पुण्य समाप्त होने वाले हैं और मैं यहाँ से धकेल दिया जाऊँगा।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे, यावत् पुण्यं(म्) समाप्यते ।

क्षीणपुण्यः(फ्) पतत्यर्वा- गनिच्छन् कालचालितः ॥ 26॥

जब तक उसके पुण्य शेष रहते हैं,तब तक वह स्वर्ग में चैन से रह सकता है;परंतु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न होने पर भी उसे स्वर्ग से नीचे गिरना पड़ता है क्योंकि काल की गति ही ऐसी है।

यद्यधर्मरतः(स्) सङ्गा- दसतां(म्) वाजितेन्द्रियः ।

कामात्मा कृपणो लुब्धः(स्), स्त्रैणो भूतविहिं(व्)सकः ॥ 27॥

पशूनविधिनाऽऽलभ्य, प्रेतभूतगणान् यजन् ।

नरकानवशो जन्तुर्- गत्वा यात्युल्बणं(न्) तमः ॥ 28॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टों की संगति में पड़कर अधर्मपरायण हो जाए,अपनी इंद्रियों के वश में होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दाने में कृपणता करने लगे लम्पट हो जाए अथवा प्राणियों को सताने लगे और विधि- विरुद्ध पशुओं की बलि देकर भूत और प्रेत की उपासना में लग जाए तो वह पशुओं से भी गया बीता हो जाता है और अवश्य ही नरक में जाता है। उसे अंत में घोर अंधकार,स्वार्थ और परमार्थ से रहित अज्ञान में ही भटकना पड़ता है।

कर्माणि दुःखोदर्काणि, कुर्वन् देहेन तैः(फ्) पुनः ।

देहमाभजते तत्र, किं(म्) सुखं(म्) मर्त्यधर्मिणः ॥ 29॥

जितने भी सकाम और बहिर्मुख करने वाले कर्म हैं, उनका फल दुख ही है। जो जीव शरीर में अहंता-ममता करके उन्हीं में लग जाता है, उसे बार-बार जन्म और मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थिति में मृत्यु धर्मा जीव को क्या सुख हो सकता है? अर्थात कोई सुख नहीं मिलता।

लोकानां(म्) लोकपालानां(म्), मद्भयं(ङ्) कल्पजीविनाम् ।

ब्रह्मणोऽपि भयं(म्) मत्तो, द्विपरार्धपरायुषः ॥ 30॥

सारे लोक और लोकपालों की आयु भी केवल एक कल्प है इसीलिए वे मुझसे भयभीत रहते हैं। औरों की तो बात ही क्या,स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं क्योंकि उनकी आयु भी काल से सीमित है, केवल दो परार्ध है।

गुणाः(स्) सृजन्ति कर्माणि, गुणोऽनुसृजते गुणान् ।

जीवस्तु गुणसं(य्)युक्तो, भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ 31॥

सत्व,रज और तम यह तीनों गुण इंद्रियों को उनके कर्मों में प्रेरित करते हैं और इंद्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश इन गुणों को और इंद्रियों को अपना स्वरूप मान लेता है और उनके किए गए कर्मों का फल सुख दु:ख भोगने लगता है।

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं(न्), तावन्नानात्वमात्मनः ।

नानात्वमात्मनो यावत् , पारतन्त्र्यं(न्) तदैव हि ॥ 32॥

जब तक गुणों की विषमता है अर्थात शरीर में मैं और मेरे पन का अभिमान है; तभी तक आत्मा के एकत्व की अनुभूति नहीं होती- वह अनेक जान पड़ता है और जब तक आत्मा की अनेकता है,तब तक तो उन्हें काल- कर्म के आधीन रहना ही पड़ेगा।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं(न्), तावदीश्वरतो भयम् ।

य एतत् समुपासीरं(व्)स्- ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ 33॥

जब तक परतंत्रता है तब तक ईश्वर से भय बना ही रहता है। जो मैं और मेरेपन के भाव से ग्रस्त रहकर आत्मा की अनेकता,परतंत्रता आदि मानते हैं और वैराग्य ग्रहण न करके बहिर्मुख करने वाले कर्मों का ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोह की प्राप्ति होती है।

काल आत्माऽऽगमो लोकः(स्), स्वभावो धर्म एव च ।

इति मां(म्) बहुधा प्राहुर्- गुणव्यतिकरे सति ॥ 34॥

हे उद्धव! जब माया के गुणों में क्षोभ होता है,तब मुझ आत्मा को ही काल,जीव, लोक,स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामों से निरूपण किया जाता है। यह सब मायामय है वास्तविक सत्य मैं आत्मा ही हूँ।

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि, देहजेष्वनपावृतः ।

गुणैर्न बद्ध्यते देही, बद्ध्यते वा कथं(म्) विभो ॥ 35॥

उद्धव जी ने पूछा- भगवन्! यह जीव देह आदि रूप गुणों में ही रह रहा है। फिर देह से होने वाले कर्मों या सुख दु:ख आदि फलों में क्यों नहीं बँधता? यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देह आदि के संपर्क से सर्वथा रहित है,फिर भी इसे बंधन की प्राप्ति कैसे होती है?

कथं(म्) वर्तेत विहरेत्, कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।

किं(म्) भुं(ञ्)जीतोत विसृजेच्-छयीतासीत याति वा ॥ 36॥

बद्धअथवा मुक्त पुरुष का बर्ताव कैसा होता है?वह कैसे विहार करता है?और किन लक्षणों से पहचाना जाता है? कैसे भोजन करता है?और कैसे विसर्जन करता है? कैसे सोता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता है?

एतदच्युत मे ब्रूहि, प्रश्नं(म्) प्रश्नविदां(म्) वर ।

नित्यमुक्तो नित्यबद्ध, एक एवेति मे भ्रमः ॥ 37॥

अच्युत!प्रश्न का मर्म जानने वालों में आप श्रेष्ठ हैं। अतः आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिए- एक ही आत्मा अनादि गुणों के संसर्ग से नित्य बद्ध मालूम पड़ता है और असंग होने के कारण नित्य मुक्त भी। इस बात को लेकर मुझे भ्रम निर्माण हो रहा है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां(म्)
संहितायामेकादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ 10॥

YouTube Full video link

https://www.youtube.com/watch?v=ZUW6ml9xcpo